

पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन में न्याय की अवधारणा

डा. ज्योत्स्ना गौतम,

एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, नवयुग कन्या महाविद्यालय, लखनऊ, उ.प्र.

शोध सारांश

मानवीय सभ्यता के विकास के साथ-साथ राजनीतिक चिन्तन में न्याय की व्याख्या व स्वरूप भी परिवर्तित हुआ है। पाश्चात्य विचार परम्परा के प्रारम्भ में न्याय परायण व्यक्तियों के गुणों को परिभाषित किया गया है। पाश्चात्य दर्शन में न्याय को सर्वप्रथम प्लेटों द्वारा परिभाषित किया गया है, उन्होंने न्याय को आत्मा का गुण माना है, फलतः वह राज्य का भी गुण है। प्लेटो का न्याय कार्य के विशेषीकरण के सिद्धान्त पर आधारित है, वही अरस्तू के अनुसार न्याय योग्यतानुसार लाभ के वितरण एवं सदगुण का सिद्धान्त है। एपीक्यूरियन न्याय को प्रथा और परम्पराओं के अनुसार समाज को नियन्त्रित करने व रोमन व्यवस्था में न्याय को धर्मग्रन्थों से सम्बन्धित किया गया। ईसाई साम्राज्य में ईश्वर द्वारा दिखाये गये मार्ग को न्याय के रूप में प्रत्यापित किया गया। ऑगस्टाइन द्वारा न्याय को ईश्वरीय न्याय से व थामस एक्वीनास द्वारा न्याय को समानता से सम्बद्ध किया गया है। आधुनिक युग में मैकियावली अनुबन्धों के प्रतिबद्धीकरण एवं विधि के अनुपालन को न्याय के रूप में परिभाषित करते हैं। रूसो, कांट, लाक व व्यक्तिवादी विचारक न्याय के साथ समानता, स्वतन्त्रता और कानून की सम्बद्धता के पक्ष में थे। उपयोगितावादी विचारक मानवजाति के सुख या उपयोगिता में सहायक तत्वों को न्याय का स्वरूप प्रदान करते, वही समाजवादी और मार्क्सवादियों द्वारा आर्थिक स्रोतों के जनसाधारण के हित में समान वितरण को न्याय की संज्ञा दी गई है।

मुख्य शब्द— न्याय, सामाजिक, समाज, विवेक, राज्य।

सभ्यता के प्रारम्भिक चरण में जब व्यक्ति वन्यजीव के रूप में जीवन निर्वहन कर रहा था, तो शक्तिशाली द्वारा दुर्बल को नष्ट किये जाने का प्राकृतिक नियम पशुओं और मनुष्यों के बीच में समान रूप से प्रचलित था। प्रागतिहासिक युग में इसके चिन्ह प्राप्त होते हैं। यह स्थिति सामाजिक समझौतावादी विचारक थामस हॉब्स की मानवीय प्रकृति की कल्पना कि व्यक्ति अपनी प्रकृति से स्वार्थी और झगडालू है, प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के प्रति हिंसक था, पाशविक शक्ति, छलकपट से एक दूसरे का संहार करता था, सत्य प्रतीत होता है। इस परिस्थिति में रह पाने में असक्य मनुष्य ने सामूहिक जीवन की दिशा में

प्रयास किया, जिसकी प्राथमिक आवश्यकता थी कि शक्तिशाली दुर्बल को न सताये। इस प्रकार न्याय की प्रारम्भिक अवधारणा की उत्पत्ति हुई।

न्याय शब्द यूनानी भाषा के डिकैयोसीन शब्द का रूपान्तर है, यह डिकैयोसीन शब्द अंग्रेजी भाषा के जस्टिस शब्द से अधिक व्यापक है। जस्टिस शब्द लैटिन भाषा के शब्द जस से बना है, जिसका अर्थ है जोडना। स्वाभाविकतः न्याय व्यक्ति से व्यक्ति को, समुदाय को समुदाय से और अन्ततः समाज को समाज से जोडता है। न्याय की माँग है कि ये सभी अपनी अपनी सीमाओं में सीमित रहें। समाज में सभी मनुष्यों

को उसका उचित अधिकार व स्थान दिलाने वाली व्यवस्था को न्याय पूर्ण व्यवस्था माना जाता है। न्याय का यह शाब्दिक परिचयांकन पूर्वोक्त मानवीय समाज के विकास का समर्थन करता प्रतीत होता है और जैसे जैसे समाजिक मूल्य परिवर्तित होते हैं न्यायिक मीमांसा अथवा व्याख्या एवं दृष्टिकोण भी परिवर्तित हो जाते हैं, क्योंकि न्याय का कार्य सामाजिक संरचना को स्वीकृत बनाये रखना है। आदिम और नागरिक समाज के मध्य न्याय पार्थक्य का एक चर है, इसलिए जैसे-जैसे समाज का क्रमिक विकास हुआ है, न्याय के सिद्धान्त एवं दृष्टिकोण से अनुशीलन किया जाय तो न्याय के परिवर्तित होते आयाम का दिग्दर्शन किया जा सकता है। जैसा पूर्वोक्त है कि न्याय का प्रारम्भिक स्वरूप दुर्बल की सबल से सुरक्षा करना था किन्तु जैसे-जैसे मानव समाज सभ्यता के विकास के क्रम में निरन्तर आगे बढ़ता गया न्याय के स्वरूप की नयी नयी व्याख्या सम्मुख आती गई। एक ओर जहाँ पश्चिमी परम्परा के अन्तर्गत न्याय के स्वरूप की व्याख्या करने के लिए मुख्यतः न्यायपरायण व्यक्ति अर्थात् सद्चरित मनुष्य के गुणों पर विचार किया गया जो व्यक्ति को न्याय की ओर प्रवृत्त करते हैं। दूसरी ओर भारतीय परम्परा में भी मनुष्य के धर्म (कर्त्तव्य) पालन को न्याय के रूप में परिभाषित किया गया है। इन दोनों ही मान्यताओं में मनुष्य के कर्त्तव्य पालन पर बल दिया गया है, और प्रत्येक मनुष्य द्वारा अपना निर्दिष्ट कार्य करना एवं दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप न करना ही न्याय माना गया है। यद्यपि आधुनिक चिंतन में न्याय की परिभाषा में परिवर्तन आया है। इस प्रकार प्राचीन ग्रीक, रोमन, ईसाई, मुस्लिम और भारतीय समाज में न्याय की जो अवधारणा रही है वह वर्तमान अवधारणा से भिन्न है। इस क्रम में न्यायिक अवधारणा के प्रमुख मानदण्ड ग्रीक विचारक आगस्टाइन तथा मर्सीलियों आफ पेडुआ के न्याय सम्बन्धी विचारों के विवरण तथा तत्कालीन भारत में प्रचलित न्याय की अवधारणा

के परिचयांकन से स्पष्ट होता है। प्राचीन यूनान में न्याय के सम्बन्ध में अनेक धारणाएं प्रचलित थी, किन्तु पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन में न्याय के अर्थ को स्पष्ट करने का सर्वप्रथम प्रयास यूनानी दार्शनिक एवं राजनीतिक विचारक प्लेटो ने किया। प्लेटो का मत है कि न्याय कोई वाह्य गुण नहीं है, न ही समझौते का परिणाम है, वह न्याय को आत्मा का गुण मानता है और चूँकि राज्य मनुष्य का वृहत स्वरूप है, अतः न्याय राज्य का भी गुण है। इस प्रकार व्यक्ति की आत्मा व राज्य में न्याय की स्थिति सार रूप से एक सी है। प्लेटों न्याय को सद्गुण मानता है जिससे प्रेरित होकर मनुष्य सबके सुख में अपना सुख अनुभव करता है, इस सम्बन्ध में प्लेटों का विचार है कि यदि न्याय के साथ संयम, बुद्धि और साहस का समन्वय नहीं है तो न्याय का कोई अर्थ नहीं है।

प्लेटों ने न्याय के दो स्वरूपों का प्रतिपदान किया है। प्रथम व्यक्तिगत न्याय, द्वितीय सामाजिक न्याय। व्यक्तिगत न्याय के सम्बन्ध में प्लेटों का विचार है कि मानवीय आत्मा के तीनों तत्व इंद्रिय तृष्णा, शौर्य तथा बुद्धि या विवेक का कार्य पृथक-पृथक निर्धारित है यथा वासना तत्व हमें प्राथमिक ऐन्द्रिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रेरित करता है शौर्य हमें जीवन में उत्साह, ओज, वीरता तथा निर्बलों की रक्षा के भाव से ओत-प्रोत करता है और विवेक हमें शुभ-अशुभ और वस्तुओं का वास्तविक ज्ञान प्रदान करता है। विवेक तीनों गुणों में सर्वश्रेष्ठ है। प्लेटों के अनुसार व्यक्तिगत न्याय की स्थिति मानव आत्मा के तीनों तत्वों में सामजस्य की वह स्थिति होती है जब मानव आत्मा का निर्माण करने वाले तत्व विवेक, साहस एवं भूख अपने-अपने निर्धारित कार्य करते हो और उनका समग्र आचरण बुद्धि द्वारा अनुशासित हो। ऐसी स्थिति व्यक्ति के सन्दर्भ में न्याय की स्थिति होती है। इस प्रकार प्लेटों की न्याय भावना व्यक्ति की आन्तरिक ईच्छा की अभिव्यक्ति है।

सामाजिक न्याय सम्बन्धी प्लेटो की धारणा भी उसकी व्यक्तिगत न्याय सम्बन्धी धारणा पर आधारित है। प्लेटो के अनुसार वासना, साहस व विवेक मानवीय आत्मा के तीनो तत्व समाज या राज्य में क्रमशः उत्पादक या सेवक, सैनिक या रक्षक तथा शासक वर्ग का स्वरूप धारण कर लेते हैं। प्लेटों की मान्यता थी कि प्रत्येक व्यक्ति में एक विशिष्ट गुण की प्रधानता होती है, अतः उसे वही कार्य करना चाहिए जिसके लिए वह प्राकृतिक रूप से समर्थ और उपयुक्त है तथा उसे उस क्षेत्र में चरम सीमा की दक्षता प्राप्त करनी चाहिए यथा शासन कार्य केवल उन लोगों को ही दिया जाना चाहिए जिनकी बुद्धि निर्लिप्त हो और विवेक निर्मल हो, रक्षा कार्य युद्ध क्षेत्र में उत्साहित होकर आत्म त्याग के लिए तत्पर रहने वाले व्यक्तियों को सौपना चाहिए तथा जिन व्यक्तियों में भूख की प्रधानता हो उन्हें उत्पादन कार्य सौपा जाना चाहिए। प्लेटो के अनुसार इन तीनो ही वर्गों में व्यक्तियों को अपने- अपने कार्य बिना एक दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप किये करने चाहिए क्योंकि एक व्यक्ति एक समय में एक ही कार्य कुशलता पूर्वक एवं प्रचुर मात्रा में कर सकता है। इससे व्यक्तियों की आवश्यकतायें भी पूर्ण हो जायेगी और राज्य भी आत्म निर्भर हो जायेगा। वर्गों में विभाजन होते हुए भी उनमें विग्रह नहीं होगा और समरसता की स्थापना हो सकेगी। इस प्रकार प्लेटो का न्याय सिद्धान्त कार्य विशेषीकरण के सिद्धान्त पर आधारित है जो प्रत्येक व्यक्ति को समाज के प्रति विशेष योगदान हेतु प्रेरित करता है प्लेटो ने न्याय सिद्धान्त का प्रतिपादन एक कानूनी सिद्धान्त के रूप में नहीं अपितु एक नैतिक सिद्धान्त के रूप में भी किया है। इस प्रकार प्लेटो के अनुसार न्याय का अर्थ प्रत्येक व्यक्ति द्वारा उस कर्तव्य का पालन है, जो उसके प्राकृतिक गुणों और सामाजिक स्थिति के अनुकूल है। नागरिकों में धर्म की चेतना तथा सार्वजनिक जीवन में उसकी अभिव्यजना उत्पन्न करना ही राज्य का न्याय है, दूसरे के कार्यों में अनावश्यक

हस्तक्षेप को प्लेटो व्यक्ति व राज्य दोनों के लिये अनिष्टकारी बताता है, इस प्रकार प्लेटो के न्याय की स्थिति व्यक्ति के अधिकारों की व्यवस्था न होकर उनके कर्तव्यों से सम्बन्धित व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों की व्यवस्था स्वमेव हो जाती है।

राजनीतिशास्त्र के जनक अरस्तू ने भी प्लेटो के समान न्याय को राज्य के लिए अति आवश्यक माना है किन्तु उन्होंने न्याय की धारणा का प्रतिपादन प्लेटो की न्याय की धारणा से भिन्न रूप में किया है। जहाँ प्लेटो के न्याय का अर्थ समाज में योग्यता स्वभाव के अनुसार श्रम विभाजन एवं प्रत्येक वर्ग द्वारा इस विभाजन के अनुसार अपने लिए निर्दिष्ट कार्य को सक्षमता से बिना दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप के पूरा करना है। वहाँ अरस्तू के लिए न्याय योग्यता और सदगुण का सिद्धान्त है जिसके अनुसार व्यक्तियों के बीच प्रशासकीय और राजनीतिक पदों, पुरस्कार, धन, सम्मान या अन्य लाभों का योग्यता और श्रम के अनुसार वितरण ही न्याय है। अरस्तू ने न्याय के दो रूपों का प्रतिपादन किया है प्रथम सामान्य न्याय और द्वितीय विशेष न्याय। सामान्य न्याय से उसका आशय अपने निकटस्थ के प्रति किये जाने वाली अच्छाई के सभी स्वरूपों से है। अच्छाई के सभी कार्यों सभी सदगुण तथा समग्र साधुता को ही अरस्तू सामान्य न्याय समझता है जबकि विशेष न्याय से अरस्तू का आशय भलाई के विशेष स्वरूपों से है जिसे वह आनुपातिक समानता के अर्थ में भी लेता है अर्थात् जिस व्यक्ति को जो मिलना चाहिए उसकी प्राप्ति इस श्रेणी में आती है।

अरस्तू ने विशेष न्याय के दो प्रकार बताये हैं प्रथम वितरणात्मक न्याय दूसरा सुधारात्मक न्याय। अरस्तू के मतानुसार वितरणात्मक न्याय का तात्पर्य प्रत्येक व्यक्ति को समाज के लिये उसके द्वारा किये गये योगदान या मूल्य के अनुसार प्राप्त होना है। अरस्तू का वितरणात्मक

न्याय राजनीतिक पदों की प्राप्ति नागरिकों को उनकी योग्यता, राज्य के लिए की गई उनकी सेवा पर आधारित है। योग्यता तथा गुण का मानदण्ड उसके द्वारा राज्य के प्रति की गयी सेवा एवं राज्य को प्रदत्त धन है। इस प्रकार जो योग्य है उसको ही न्याय या सम्मान मिलना चाहिए। इस आनुपातिक न्याय को ही अरस्तू वास्तविक समानता समझता है। अरस्तू के अनुसार न्याय का आधार सद्गुण है, साथ ही राज्य में पदों को गुणों के आधार पर विभक्त करना ही सच्चा वितरणात्मक न्याय है।

अरस्तू के सुधारात्मक न्याय का आशय ऐसे न्याय से है जो नागरिकों के अधिकारों का अन्य व्यक्तियों द्वारा किये जाने वाले अतिक्रमण को रोकता है। सुधारात्मक न्याय के अन्तर्गत राज्य का दायित्व है कि वह नागरिकों में आपसी सम्बन्धों की व्यवस्था नागरिकों पर न छोड़कर अपितु उनका नियन्त्रण समाज सुधार के उद्देश्य से कर सामाजिक जीवन को व्यवस्थित बनाये। इस प्रकार अरस्तू वितरणात्मक न्याय से प्राप्त मनुष्य के अधिकारों की रक्षा के लिए राज्य द्वारा की गयी व्यवस्था को सुधारात्मक न्याय बताता है।

ग्रीकनगर राज्यों की न्याय व्यवस्था में संशोधन उनके उपरान्त एपीक्यूरियन विचारकों ने किया। एपीक्यूरियन के अनुसार न्याय कोई निरपेक्ष सत्य नहीं है बल्कि पारस्परिक सम्बन्धों का निरूपण करने के लिए एक परम्परा है, जो समय-समय पर विभिन्न स्थानों में एक दूसरे को हानि और संघर्ष से बचने के लिए निर्मित किया जाता है। इनके अनुसार न्याय प्रथा और परम्परा के अनुसार समाजों को नियन्त्रित करना था। स्टोइक्स के अनुसार न्याय व्यक्ति के द्वारा अपने हित में कल्याण के लक्ष्यों को प्राप्त करना है। इनका मत था कि न्याय कानूनों और प्रथाओं से निःसृत नहीं होता अपितु, तर्क, बुद्धि से प्राप्त किया जा सकता है। प्राकृतिक न्याय की कल्पना का विकास सर्वप्रथम स्टोइक्स विचारकों ने ही

किया था किन्तु एपीक्यूरियन और स्टोइक्स विचारक समाज को बहुत प्रभावित नहीं कर सके। कलान्तर में रोमन साम्राज्य में न्याय को भिन्न रूप में देखा गया।

रोमन व्यवस्था में सामाजिक नियमों और राज्य या सरकार ने केवल उन्हीं कार्यों व कानूनों को न्याय संगत माना जो धर्म ग्रन्थों के अनुकूल हो। सिसरो का मत है कि हम सभी का जन्म न्याय के लिए ही हुआ है और न्याय वह नहीं है जिसे लोग सम्मति के रूप में व्यक्त करते हैं अपितु न्याय वह है जो स्वाभाविक रूप से प्रत्येक व्यक्ति की प्रकृति के अंदर विद्यमान है। महिलाओं को उनके अधिकार और सम्मानपूर्ण जीवन प्रदान करना रोमन न्याय का सार था।

रोमन साम्राज्य के पराभव के पश्चात् ईसाई साम्राज्य का प्रादुर्भाव हुआ और ईसाई धर्मावलम्बी इस व्यवस्था ने न्याय को ईश्वर की इच्छा माना अतः ईश्वर द्वारा दिखाए गये मार्ग को ही न्याय के रूप में प्रत्यापित किया गया। उल्लेखनीय है कि ईसा मसीह का न्याय, मानव, समानता, दया, सहानुभूति जैसे उच्च आदर्शों पर आधारित है। आगस्टाइन को इस न्यायिक विचार का प्रणेता माना जा सकता है, सेन्ट आगस्टाइन की न्याय की कल्पना ईश्वरीय न्याय की कल्पना है। इन्होंने ईश्वरीय न्याय को राज्य का एक प्रमुख तत्व माना है तथा कहा कि "जिन राज्यों में न्याय नहीं रह जाता है वे डाकुओं के झुण्ड मात्र कहे जा सकते हैं।" आगस्टाइन ने न्याय की विवेचना परिवार, लौकिक राज्य व ईश्वरीय राज्य के रूप में की है, तथा यह प्रतिपादित किया कि अंतिम रूप से व्यक्ति द्वारा ईश्वरीय राज्य के प्रति कर्तव्य का पालन ही न्याय है। आगस्टाइन के मत में धर्म एक ऐसा प्रतिफल है जो व्यक्ति को अपने कर्तव्य पालन के उपरान्त मिलता है उसके मतानुसार न्याय एक व्यवस्थित एवं अनुशासित जीवन निर्वाह करने में निहित है।

अपने हजारों साल की लम्बी यात्रा के मध्य चरण में न्याय के धार्मिक आधारों में कुछ परिवर्तन आया और विवेक पर आस्था प्रकट करते हुए न्याय को मानवीय विवेक के अनुसार किये गये कार्यों के रूप में स्वीकार किया गया। न्याय व्यक्ति को अपना प्रतिदेय अधिकार देने का निश्चित औचित्य स्थायी संकल्प है, जिसे विशेष भागों में विभक्त किया जा सकता है। विशेष न्याय सभी के लिए है। सामान्य न्याय व्यक्तियों के अधिकार का परिसीमन है इस विचार का प्रतिपादन टामस एक्वीनास के ग्रन्थों में होता है। थामस एक्वीनास ने समानता को न्याय का मौलिक तत्व माना है। मार्सीलियो ऑफ पेडुआ भी लगभग इसी विचारधारा का समर्थक है।

मैक्यावली के साथ राजनीतिक दर्शन में आधुनिक विचारों का अभ्युदय होता है। न्याय का आधुनिक रूप भी ह्यूम के विचारों में परिलक्षित होने लगा, उसने अनुबन्धों के प्रतिबद्धीकरण एवं विधिके अनुपालन को ही न्याय स्वीकार किया है। उसका विचार था कि विधि सर्वहित का आधार है, अतः सर्वहित ही न्याय का एक मात्र स्रोत होना चाहिए।

इस प्रकार पुर्नजागरण से लेकर फ्रेंच राज्य क्रान्ति तक के समय में न्याय के सम्बन्ध में यह विचारधारा पुष्ट होने लगी कि मनुष्य के कुछ प्राकृतिक अधिकार हैं जिन्हें कोई मानवीय शक्ति मनुष्य से अपहृत नहीं कर सकती। जीवन और स्वतन्त्रता की सुरक्षा तथा सम्पत्ति के अधिकार को मनुष्य का न्याययुक्त अधिकार माना है। 18वीं शताब्दी में न्याय का सम्बन्ध स्वतन्त्रता, समानता, बन्धुत्व के सिद्धान्तों से माना गया, किन्तु अभी तक केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता व कानून के सम्मुख समानता ही न्याय के प्रधान अंग समझे जाते थे। रूसों, कांट और लॉक का मत था कि न्याय में समानता, स्वतन्त्रता और कानून का मिश्रण होना अति आवश्यक है। 19वीं शताब्दी के पूर्व तक न्याय की यही अवधारणा प्रचलित रही।

इस अवधि की न्यायिक अवधारणा को पारम्परिक न्याय की अवधारणा के परिवर्तन का प्रारूप माना जा सकता है। यह अवधारणा समकालीन संस्था से अपने को पृथक करती थी, उनकी आलोचना करते हुए स्वयं को सकारात्मक रूप से प्रस्थापित करती थी, बाद में न्यायिक व्यवस्था, राजनीतिक चिन्तन के मूल भूत तत्वों के अनुसार हुई।

बेन्थम और मिल के उपयोगितावादी सिद्धान्त के अनुसार मानव जाति के सुख या उपयोगिता की अधिकतम वृद्धि में सहायक को ही न्याय माना गया। बेन्थम का विचार था कि समस्त प्रतिबन्धों की अनुपस्थिति में सुख समाहित है। बेन्थम ने कहा कि सार्वजनिक वस्तुओं, सेवाओं आदि का वितरण उपयोगिता के आधार पर होना चाहिए। मिल ने भी उपयोगिता को न्याय का मूल मन्त्र बताया है। व्यक्तिवादी, अराजकतावादी, और मार्क्सवादी और अन्ततः लोकतान्त्रिक, विकासवादी एवं समाजवादी समाज में न्याय का स्वरूप परिवर्तित होता रहा, यदि व्यक्तिवादी विचारों में स्वतन्त्रता, समानता का संयोगीकरण ही न्याय था तो कठोरता से न्याय का सम्बन्ध स्थापित कर दिया गया और न्याय का अर्थ आर्थिक स्रोतों के वितरण को स्वीकारा गया। दूसरी ओर अराजकतावादी विचारकों ने धन के असंतुलित वितरण को अन्याय कहा, जबकि मार्क्सवादी विचारों में प्रारम्भिक न्याय के विचारों को पूँजीवादी घोषित करते हुए समानता, स्वतन्त्रता के मूल्यों की समाज में स्थापना करते हुए एक वर्गविहीन समाज की संरचना, जिसमें आर्थिक स्रोतों का एकत्रीकरण व्यक्ति अथवा वर्ग विशेष के हाथ में न होकर जन साधारण के हित में हो, को न्याय की संज्ञा दी गयी। विकासवादी लोकतान्त्रिक समाजवादी परिप्रेक्ष्य में समाजवादी और विकासवादी विचारों को एक साथ जोड़ते हुए न्याय का अर्थ व्यक्ति मात्र को समानता, स्वतन्त्रता प्रदान करते हुए सम्पत्ति के स्रोतों पर

समाज का नियन्त्रण आदि माना गया तथा विधि के अनुपालना की आवश्यकता को स्वीकारा गया।

पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तको के न्याय की अवधारणा सम्बन्धी विचारों के विश्लेषण उपरान्त विभिन्न प्रकार के न्याय से सम्बन्धित स्वरूप परिलक्षित होते हैं, यथा न्याय का नैतिक स्वरूप, कार्य का विशेषीकरण स्वरूप, न्याय का वितरणात्मक स्वरूप (पदों का योग्यतानुसार वितरण) न्याय का ईश्वरीय प्रेरणा का स्वरूप, न्याय का धर्मग्रन्थों के पालन में निहित होना, अनुबन्धों के प्रतिबद्धीकरण एवं विधि के पालन में न्याय का निवास, न्याय का मानव जाति के कल्याण के लिए उपयोगी नियम के रूप में उल्लेख, आर्थिक स्रोतों के न्याय पूर्ण वितरण, स्वतन्त्रता, समानता, बन्धुत्व की स्थापना, कानून के शासन को स्थापित करने के साधन के रूप में न्याय को व्याख्यायित किया गया है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन में न्याय की अवधारणा न्याय के नैतिक स्वरूप से प्रारम्भ होकर भौतिक हितों की पूर्ति के

दृष्टिकोण से सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक न्याय पर अवलम्बित हो गई है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. ओ.पी.गाबा, पाश्चात्य राजनीतिक विचारक, मयूर पेपर बैक्स, नोयडा, 2011.
2. एम. बी. फोस्टर, मास्टर्स ऑफ पालिटिकल थॉट, जार्ज ए हारपर एण्ड कम्पनी, लन्दन, 1963.
3. जी. एच. सेबाइन, हिस्ट्री ऑफ पालिटिकल थॉट, जार्ज एण्ड हारपर, लन्दन, 1956
4. सुखवीर सिंह, हिस्ट्री ऑफ पालिटिकल थ्योरी, रस्तोगी पब्लिकेशन्स, मेरठ, 2017 वोल्यूम 1,2.
5. विश्वनाथ वर्मा, पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारा का इतिहास, हिन्दी समिति, लखनऊ, 1964.